

एक जीवन गाथा

# नेताजी

## सुभाष चन्द्र बोस

जन्म से अंतिम सफ़र तक —  
जीवन • विचार • संघर्ष



कामरान असद

संपादक, मानवाधिकार मीडिया

[kamranasad.in](http://kamranasad.in)

# नेताजी

सुभाष चन्द्र बोस — एक जीवन गाथा

जन्म से अंतिम सफ़र तक : जीवन, विचार और संघर्ष

लेखक : कामरान असद

प्रथम संस्करण : 2026

© 2026 कामरान असद — सर्वाधिकार सुरक्षित

टिप्पणी : यह जीवनी उपलब्ध ऐतिहासिक स्रोतों, नेताजी के लेखों व भाषणों, उनके सहयोगियों के संस्मरणों और जाँच-आयोगों के अभिलेखों पर आधारित है। प्रसिद्ध भाषणों के अंश प्रामाणिक उद्धरणों से लिए गए हैं। जहाँ संवाद दिए गए हैं, वे ऐतिहासिक वृत्तांतों और संस्मरणों में वर्णित बातचीत का सार-रूप हैं, शब्दशः प्रतिलिपि नहीं। नेताजी के निधन से जुड़ा प्रश्न विवादित है — इस पुस्तक में सभी प्रमुख पक्ष तथ्यों के साथ रखे गए हैं, निर्णय पाठक के विवेक पर छोड़ा गया है।

वेबसाइट : kamranasad.in

## समर्पण

उन सभी ज्ञात-अज्ञात सैनिकों के नाम,  
जिन्होंने आज़ाद हिंद फ़ौज की वर्दी पहनी  
और “दिल्ली चलो” कहते हुए  
अपना सब कुछ देश के नाम कर दिया।  
  
जय हिंद।

## अनुक्रम

1. लेखक की कलम से — नेताजी को आज पढ़ना क्यों ज़रूरी है
2. अध्याय 1 : कटक का वह बालक (1897–1913)
3. अध्याय 2 : प्रेसीडेंसी कॉलेज — अपमान और आत्मसम्मान (1913–1919)
4. अध्याय 3 : कैम्ब्रिज, ICS और ऐतिहासिक इस्तीफ़ा (1919–1921)
5. अध्याय 4 : गांधी से पहली मुलाक़ात, देशबंधु का साथ (1921–1923)
6. अध्याय 5 : स्वराज दल, नगर निगम और मांडले की जेल (1923–1927)
7. अध्याय 6 : पूर्ण स्वराज की गूँज (1928–1932)
8. अध्याय 7 : यूरोप का निर्वासन — विचार, पुस्तक और एमिली (1933–1936)
9. अध्याय 8 : हरीपुरा — कांग्रेस अध्यक्ष और स्वतंत्र भारत का स्वप्न (1938)
10. अध्याय 9 : त्रिपुरी संकट — मतभेद, इस्तीफ़ा और फॉरवर्ड ब्लॉक (1939–1940)
11. अध्याय 10 : महान पलायन — कलकत्ता से काबुल और बर्लिन (1941)
12. अध्याय 11 : बर्लिन के दिन — आज़ाद हिंद रेडियो और हिटलर से भेंट (1941–1943)
13. अध्याय 12 : पनडुब्बी का सफ़र और सिंगापुर आगमन (1943)
14. अध्याय 13 : आज़ाद हिंद सरकार — “जय हिंद, दिल्ली चलो” (1943)
15. अध्याय 14 : रानी झाँसी रेजिमेंट और शहीद-स्वराज द्वीप (1943–1944)
16. अध्याय 15 : इम्फाल-कोहिमा — “तुम मुझे खून दो...” (1944)
17. अध्याय 16 : वापसी का तूफ़ान और अंतिम उड़ान (1945)
18. अध्याय 17 : ताइपे — दुर्घटना या रहस्य? जाँच और विवाद
19. अध्याय 18 : विरासत और अंतरराष्ट्रीय छवि — नेताजी आज भी
20. परिशिष्ट : जीवन-क्रम • प्रसिद्ध उद्धरण • संदर्भ-टिप्पणी
21. लेखक परिचय

## नेताजी को आज पढ़ना क्यों ज़रूरी है

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में बहुत से महापुरुष हुए, पर सुभाष चन्द्र बोस जैसा जीवन किसी और का नहीं रहा। एक ही जीवन में इतने रंग — ICS की परीक्षा में चौथा स्थान और फिर उस प्रतिष्ठित नौकरी से इस्तीफ़ा, गांधी के चरणों में बैठकर सीखना और फिर उनसे सिद्धांतों पर खुला मतभेद, कांग्रेस का अध्यक्ष पद और फिर उसी से अलग होकर फॉरवर्ड ब्लॉक, छद्मवेश में आधी दुनिया का सफ़र, पनडुब्बी से महासागर पार करना, निर्वासन में सरकार बनाना, चालीस हज़ार की फ़ौज खड़ी करना, और अंत में एक ऐसी उड़ान जिस पर आज भी प्रश्नचिह्न है।

नेताजी को अक्सर सिर्फ “आज़ाद हिंद फ़ौज के नेता” कहकर सीमित कर दिया जाता है। यह उनके साथ अन्याय है। वे एक गहरे चिंतक थे — जिन्होंने स्वतंत्र भारत की आर्थिक योजना, राष्ट्रीय एकता, नारी-समानता, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र और आधुनिक विज्ञान-आधारित शिक्षा पर उस समय विचार किया, जब देश गुलामी की जंजीरों में था। उन्होंने 1938 में राष्ट्रीय योजना समिति बनाई, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की — यानी स्वतंत्र भारत के नियोजन की नींव में नेताजी का हाथ था।

इस जीवनी को लिखते समय मेरा प्रयास तीन बातों पर रहा है। पहला — तथ्य। तिथियाँ, घटनाएँ और भाषणों के अंश प्रामाणिक स्रोतों से लिए गए हैं। दूसरा — संतुलन। गांधी और नेताजी के मतभेद को मैंने झगड़े की तरह नहीं, दो महान देशभक्तों के मार्ग-मतभेद की तरह प्रस्तुत किया है, क्योंकि स्वयं नेताजी ने 1944 में रंगून से गांधी को “राष्ट्रपिता” कहकर संबोधित किया था और उनका आशीर्वाद माँगा था। तीसरा — ईमानदारी। अंतिम अध्यायों में जहाँ इतिहास स्वयं अनिश्चित है, वहाँ मैंने सारे पक्ष रखे हैं और किसी निष्कर्ष को थोपा नहीं है।

आज का युवा जब नेताजी को पढ़ता है, तो उसे सिर्फ इतिहास नहीं मिलता — उसे लक्ष्य के लिए त्याग, असफलता में भी खड़े रहने का साहस, और देश को हर स्वार्थ से ऊपर रखने की प्रेरणा मिलती है। अगर यह पुस्तक किसी एक पाठक के मन में भी वह आग जगा दे, तो मेरा यह प्रयास सफल होगा।

— कामरान असद

संपादक, मानवाधिकार मीडिया

## अध्याय 1

### कटक का वह बालक (1897-1913)

23 जनवरी 1897 को उड़ीसा के कटक नगर में एक प्रतिष्ठित बंगाली परिवार में एक बालक का जन्म हुआ। पिता राय बहादुर जानकीनाथ बोस उस इलाके के नामी वकील और सरकारी अभियोजक थे। माता प्रभावती देवी धार्मिक स्वभाव की, अनुशासनप्रिय महिला थीं। बालक का नाम रखा गया — सुभाष।

जानकीनाथ बोस का परिवार बड़ा था — सुभाष उनकी नौवीं संतान थे, कुल चौदह भाई-बहनों में। घर में समृद्धि थी, अंग्रेज़ सरकार से पिता को सम्मान और उपाधि मिली हुई थी, पर घर का वातावरण विचित्र रूप से दोहरा था — बाहर से राजभक्ति, भीतर से भारतीय संस्कार। पिता सार्वजनिक जीवन में सक्रिय थे, नगर के कामों में आगे रहते थे, और बच्चों को शिक्षा का महत्व वे बार-बार समझाते थे।

छोटा सुभाष स्वभाव से गंभीर और अंतर्मुखी था। पाँच वर्ष की आयु में उसे कटक के प्रोटेस्टेंट यूरोपियन स्कूल में भर्ती किया गया, जहाँ पढ़ाई अंग्रेज़ी माध्यम में होती थी और अधिकांश बच्चे एंग्लो-इंडियन थे। वहाँ का कठोर अनुशासन और भारतीय बच्चों के प्रति कभी-कभी झलकता भेदभाव बालक के मन में प्रश्न खड़े करता था। बाद में उसने अपनी आत्मकथा में लिखा कि उस विद्यालय ने अंग्रेज़ी तो सिखाई, पर भारतीय होने का गर्व वहाँ नहीं मिला।

1909 में सुभाष को रेवेनशॉ कॉलेजिएट स्कूल में भर्ती किया गया। यहाँ जीवन बदल गया। प्रधानाध्यापक बेनीमाधव दास जैसे शिक्षक मिले, जिन्होंने विद्यार्थियों के चरित्र को पढ़ाई जितना ही महत्व दिया। बंगला भाषा और भारतीय संस्कृति से सुभाष का गहरा लगाव यहीं बना। उसने देखा कि अंग्रेज़ी स्कूल की चमक के पीछे अपनी मिट्टी की वह जड़ नहीं होती जो इंसान को आत्मविश्वास देती है।

किशोर सुभाष पर दो प्रभाव सबसे गहरे पड़े — विवेकानंद के विचार, जिनसे “मानव सेवा ही सच्चा धर्म है” उसके जीवन का सूत्र बना; और बंगाल का क्रांतिकारी वातावरण — खुदीराम बोस की फाँसी और “वंदे मातरम्” की गूँज हर संवेदनशील युवक को झकझोरती थी।

पंद्रह-सोलह वर्ष की आयु में सुभाष अपने साथियों के साथ समाज-सेवा में जुट गया — बीमारों की सेवा, गरीब विद्यार्थियों की सहायता, बाढ़-पीड़ितों के लिए काम। एक बार वह साथियों के साथ धार्मिक यात्रा और साधु-संगति की खोज में घर से निकल पड़ा — यह घटना परिवार के लिए चिंता का कारण बनी, पर यह उस युवक की आंतरिक खोज को दर्शाती है जो जीवन का अर्थ केवल नौकरी और धन में नहीं ढूँढ रहा था।

1913 में मैट्रिक परीक्षा में सुभाष ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दूसरा स्थान प्राप्त किया। यह उस प्रतिभा की घोषणा थी जो आगे चलकर ICS में भी चमकने वाली थी — पर नियति ने उसके लिए परीक्षा-कक्ष से बड़ा मंच तैयार कर रखा था।

### **इस अध्याय से**

नेताजी के व्यक्तित्व की तीन नींवें बचपन में ही दिखती हैं — माँ से मिला संस्कार और अनुशासन, विवेकानंद से सेवा का भाव, और बंगाल के वातावरण से देश के लिए बेचैनी। महान जीवन अचानक नहीं बनते; उनकी जड़ें बचपन की मिट्टी में होती हैं।

## अध्याय 2

# प्रेसीडेंसी कॉलेज — अपमान और आत्मसम्मान (1913-1919)

1913 में सुभाष कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रेसीडेंसी कॉलेज में दर्शनशास्त्र पढ़ने आया। यह कॉलेज ब्रिटिश भारत की शिक्षा का गौरव था — और साथ ही भारतीय विद्यार्थियों के आत्मसम्मान की रोज़ की परीक्षा भी।

कॉलेज में अंग्रेज़ अध्यापक ई. एफ़. ओटेन अपने भारतीय-विरोधी व्यवहार के लिए जाना जाता था। वह कक्षा में भारतीयों और भारतीय संस्कृति के बारे में अपमानजनक बातें करता था। 1916 की एक घटना इतिहास बन गई — ओटेन ने कुछ विद्यार्थियों के साथ दुर्व्यवहार और धक्का-मुक्की की, जिसके विरोध में विद्यार्थी हड़ताल पर चले गए। कुछ दिन बाद ख़बर फैली कि ओटेन को कुछ विद्यार्थियों ने पीट दिया है।

जाँच में सुभाष पर सीधा प्रमाण नहीं मिला, पर विद्यार्थी-आंदोलन के प्रमुख चेहरे के रूप में उसे ही दोषी मानकर कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। यह उसके शैक्षणिक जीवन पर भारी आघात था — पर यही घटना उसके जीवन का पहला बड़ा सबक भी बनी : आत्मसम्मान की कीमत चुकानी पड़ती है, और वह चुकाने को तैयार था। अपनी आत्मकथा में उसने इस प्रसंग को अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत जैसा माना।

निष्कासन के बाद सुभाष कुछ समय अपने घर कटक रहा, समाज-सेवा और अध्ययन में लगा रहा। पिता के प्रयासों से 1917 में उसे स्कॉटिश चर्च कॉलेज में प्रवेश मिला। 1919 में उसने दर्शनशास्त्र में ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में बी.ए. किया। विद्यार्थी जीवन में वह विश्वविद्यालय के सैन्य प्रशिक्षण दल (University Training Corps) में भी रहा — वर्दी, परेड और सैन्य अनुशासन से उसका पहला परिचय यहीं हुआ, जो आगे चलकर आज़ाद हिंद फ़ौज में काम आने वाला था।

इसी दौर में उसके मन में संन्यास और कर्म का संघर्ष भी चल रहा था। विवेकानंद की शिक्षा ने स्पष्ट कर दिया — मुक्ति का मार्ग कर्म से भागना नहीं, निःस्वार्थ कर्म है; उसका क्षेत्र आश्रम नहीं, राष्ट्र का कर्मक्षेत्र होगा।

1919 में पिता ने प्रस्ताव रखा — इंग्लैंड जाकर ICS की परीक्षा दो। ICS उस समय भारतीय युवक के लिए सफलता की पराकाष्ठा थी — “स्टील फ्रेम” कहलाने वाली यह सेवा सत्ता, वेतन और सम्मान — सब देती थी। सुभाष के मन में द्वंद्व था, पर उसने चुनौती स्वीकार की। शर्त अपने मन से एक ही रखी — परीक्षा पास करना उसका कर्तव्य है, नौकरी करना या न करना बाद का निर्णय होगा।

सितंबर 1919 में वह इंग्लैंड रवाना हुआ। जहाज़ की उस यात्रा में एक युवक अपने साथ किताबें, विवेकानंद के विचार और एक अनकहा संकल्प लेकर जा रहा था — संकल्प, जो दो वर्ष बाद पूरे देश को चौंकाने वाला था।

### ऐतिहासिक टिप्पणी

प्रेसीडेंसी कॉलेज की घटना पर इतिहासकारों के विवरणों में मामूली अंतर है, पर इतना सर्वमान्य है — ओटेन प्रसंग के बाद सुभाष का निष्कासन हुआ, और यही उसके जीवन का पहला सार्वजनिक संघर्ष था।

## कैम्ब्रिज, ICS और ऐतिहासिक इस्तीफ़ा (1919-1921)

कैम्ब्रिज पहुँचकर सुभाष ने अभूतपूर्व परिश्रम किया। ICS की परीक्षा की तैयारी के लिए उसके पास मात्र आठ महीने थे — विषय भी अधिकांश नए। दिन-रात के अध्ययन का परिणाम आया तो सब चकित रह गए — 1920 की ICS परीक्षा में वह अंग्रेज़ी रचना में सर्वोच्च अंकों के साथ कुल मिलाकर चौथे स्थान पर रहा।

अब उसके सामने वह द्वार खुला था जिसके लिए हज़ारों भारतीय परिवार सपने देखते थे — ज़िलाधिकारी बनना, सत्ता का सुख, जीवन भर की सुरक्षा। पर सुभाष का मन कहीं और था। भारत से समाचार आ रहे थे — जलियाँवाला बाग़ का नरसंहार (1919) हो चुका था, असहयोग आंदोलन की चिंगारी फैल रही थी, गांधी का नाम हर भारतीय के होंठों पर था।

उसने अपने बड़े भाई शरत चन्द्र बोस को लंबे पत्र लिखे, जिनमें उसका मानसिक संघर्ष शब्द-शब्द में झलकता है। एक पत्र में उसने लिखा कि सरकारी नौकरी में रहकर वह देश की वह सेवा नहीं कर सकता जो उसका मन चाहता है; आराम और सम्मान की ज़िंदगी आत्मा को छोटा कर देगी। शरत ने उसे समझाने का प्रयास किया, आर्थिक वास्तविकताएँ भी सामने रखीं — पर अंततः भाई के निर्णय का सम्मान किया।

अंततः अप्रैल 1921 में सुभाष चन्द्र बोस ने ICS से इस्तीफ़ा दे दिया। वह उन गिने-चुने भारतीयों में था जिन्होंने अपने पैरों से “सुनहरी ज़ंजीर” उतारकर फेंक दी। बाद में अपने इस निर्णय पर उसने कहा था कि राष्ट्रीय संकट के समय किसी भारतीय का स्थान सरकार की कुर्सी पर नहीं, जनता के संघर्ष में है।

इस्तीफ़ा केवल नौकरी छोड़ना नहीं था — वह परिवार की अपेक्षाओं, सामाजिक प्रतिष्ठा और एक निश्चित भविष्य का त्याग था। पिता जानकीनाथ के लिए यह गहरा आघात था, पर पुत्र के चरित्र की दृढ़ता वे भी जानते थे। इतिहास की दृष्टि से यह निर्णय एक संदेश था — भारत का युवक अब अंग्रेज़ की सेवा नहीं, भारत की सेवा करेगा।

जुलाई 1921 में सुभाष स्वदेश लौटा। बंबई पहुँचते ही वह सीधे उस व्यक्ति से मिलने गया, जो उस समय भारत की राजनीति का केंद्र था — मोहनदास करमचंद गांधी। उस मुलाक़ात से भारतीय राजनीति के सबसे रोचक और जटिल संबंध की शुरुआत होने वाली थी।

### **प्रसिद्ध वचन**

ICS से इस्तीफ़े के अपने पत्र और भाई को लिखे पत्रों में सुभाष का तर्क स्पष्ट था — “मैं अपने जीवन का सर्वोत्तम समय विदेशी नौकरशाही की सेवा में नहीं दे सकता।” यह वाक्य आगे चलकर हज़ारों युवकों के लिए प्रेरणा बना।

## गांधी से पहली मुलाक़ात, देशबंधु का साथ (1921-1923)

16 जुलाई 1921 को बंबई के मणि भवन में सुभाष गांधी से मिला। युवा सुभाष ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी — आंदोलन की योजना क्या है, एक वर्ष में स्वराज का वादा कैसे पूरा होगा, अंग्रेज़ों पर दबाव का ठोस कार्यक्रम क्या होगा?

गांधी ने शांत भाव से उत्तर दिए, पर सुभाष के विश्लेषणात्मक मन को वे पर्याप्त नहीं लगे। अपनी आत्मकथा में उसने लिखा कि उस दिन उसे लगा — महात्मा के पास जनता को जगाने की अद्भुत शक्ति है, पर क्रमबद्ध योजना की स्पष्टता अभी धुंधली है। गांधी ने उसे सलाह दी — कलकत्ता जाकर देशबंधु चित्तरंजन दास से मिलो, बंगाल में वही तुम्हारे मार्गदर्शक होंगे।

यह सलाह सुभाष के जीवन की सबसे सार्थक सलाह सिद्ध हुई। चित्तरंजन दास — “देशबंधु” — बंगाल के सर्वोच्च नेता, महान वकील, जिन्होंने अपनी लाखों की कमाई देश के नाम कर दी थी। सुभाष उनके साथ ऐसे जुड़ा जैसे शिष्य गुरु से जुड़ता है। उसने बाद में लिखा कि गांधी ने उसे नेता दिया और देशबंधु ने उसे कर्मभूमि।

कलकत्ता में सुभाष ने असहयोग आंदोलन में पूर्ण शक्ति से काम किया — राष्ट्रीय विद्यालयों का संगठन, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का प्रचार, खादी का काम। दिसंबर 1921 में प्रिंस ऑफ़ वेल्स के आगमन के विरोध में हड़ताल के संगठन पर उसे पहली गिरफ्तारी मिली — छह महीने का कारावास। जेल से छूटते ही वह फिर मैदान में था।

फरवरी 1922 में चौरी-चौरा की घटना के बाद गांधी ने आंदोलन वापस ले लिया। सुभाष समेत अनेक युवा नेता इससे निराश हुए — उनका मानना था कि जनता जाग चुकी थी, पीछे हटना भूल होगी। यह गांधी से उसका पहला बड़ा वैचारिक मतभेद था — पर व्यक्तिगत सम्मान उसने कभी कम नहीं होने दिया। यही उसके चरित्र की विशेषता थी : मतभेद सिद्धांतों पर, कटुता कभी नहीं।

1922 में गया अधिवेशन के बाद चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के भीतर “स्वराज दल” बनाया — विधान परिषदों में जाकर अंग्रेज़ी शासन को भीतर से अवरुद्ध करने की नीति। सुभाष देशबंधु का दाहिना हाथ बन गया। उसने “फॉरवर्ड” नामक अंग्रेज़ी पत्र का संपादन संभाला और अपनी संगठन-क्षमता का पहला बड़ा प्रदर्शन किया।

इन वर्षों में सुभाष की कार्यशैली स्पष्ट हो चुकी थी — तेज़ निर्णय, कठोर अनुशासन, युवा शक्ति पर भरोसा, और हर काम में पूर्ण समर्पण। देशबंधु उसमें बंगाल का भविष्य देखते थे।

### **संबंधों की झलक**

गांधी और सुभाष का संबंध इस पूरी जीवनी की धुरी है — गुरु-शिष्य जैसा सम्मान, पर रणनीति पर स्पष्ट मतभेद। देशबंधु के साथ संबंध इससे अलग था — पूर्ण विश्वास का। सुभाष ने लिखा है कि दास उसके लिए नेता से बढ़कर पिता-समान थे।

# स्वराज दल, नगर निगम और मांडले की जेल (1923-1927)

1924 में कलकत्ता नगर निगम के चुनावों में स्वराज दल को बड़ी सफलता मिली। चित्तरंजन दास मेयर बने और सुभाष को निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer) नियुक्त किया गया — मात्र 27 वर्ष की आयु में।

इस पद पर सुभाष ने जो प्रशासनिक क्षमता दिखाई, वह उसके आलोचकों को भी माननी पड़ी। उसने निगम की कार्यप्रणाली बदली, भारतीय अधिकारियों को अवसर दिए, गरीब बस्तियों में पानी-रोशनी और शिक्षा की व्यवस्था पर ध्यान दिया, कर्मचारियों के वेतन और कार्य-घंटों में सुधार किया। खादी को निगम की पोशाक-व्यवस्था से जोड़ा — प्रशासन उसके लिए भी राष्ट्र-निर्माण का साधन था।

पर अंग्रेज़ सरकार उसे ख़तरा मान चुकी थी। बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियाँ तेज़ थीं और सरकार को सुभाष पर क्रांतिकारियों से संपर्क का संदेह था। अक्टूबर 1924 में उसे बंगाल रेगुलेशन-III (1818) के तहत बिना मुक़दमा चलाए गिरफ़्तार कर लिया गया — वही पुराना औपनिवेशिक हथियार, जिससे बिना अदालत गए किसी को भी अनिश्चित काल तक बंद किया जा सकता था।

पहले उसे अलीपुर जेल में रखा गया, फिर बर्मा की मांडले जेल भेज दिया गया — वही जेल जहाँ पहले लोकमान्य तिलक छह वर्ष काट चुके थे। मांडले की जलवायु, बीमारी और अपमानजनक व्यवहार ने उसका स्वास्थ्य तोड़ा, पर मनोबल नहीं। जेल से लिखे पत्रों में उसकी पढ़ने की भूख, देश की चिंता और आत्मबल झलकता है। उसने दुर्गा-पूजा के आयोजन की माँग पर जेल में भी संघर्ष किया और धार्मिक अधिकारों की लड़ाई लड़ी।

जून 1925 में देश के लिए एक और आघात आया — देशबंधु चित्तरंजन दास का निधन। जेल में बैठे सुभाष के लिए यह व्यक्तिगत क्षति थी; उसने कहा था कि उसने अपना मार्गदर्शक और पिता खो दिया। बंगाल की राजनीति में अब उसका कद स्वतः बढ़ गया था।

स्वास्थ्य लगातार बिगड़ने और देशभर के दबाव के बाद सरकार ने शर्तों के साथ रिहाई का प्रस्ताव रखा — इलाज के लिए यूरोप चले जाओ, राजनीति से दूर रहो। सुभाष ने शर्तें ठुकरा दीं। अंत में मई 1927 में उसे बिना शर्त रिहा किया गया — कमज़ोर शरीर के साथ, पर पहले से अधिक दृढ़ संकल्प के साथ।

मांडले के ये वर्ष उसे बंगाल का निर्विवाद युवा नेता बना चुके थे। अब उसका मंच केवल बंगाल नहीं, पूरा भारत होने वाला था।

### ऐतिहासिक टिप्पणी

रेगुलेशन-III के तहत बिना मुक़दमा नज़रबंदी औपनिवेशिक शासन का वह चेहरा था जिसे नेताजी जीवन भर उजागर करते रहे। मांडले जेल से उनके पत्र आज भी उनके साहित्यिक और आध्यात्मिक पक्ष के सुंदर दस्तावेज़ हैं।

### पूर्ण स्वराज की गूँज (1928-1932)

1928 का वर्ष भारतीय राजनीति में उथल-पुथल का था। साइमन कमीशन का देशव्यापी बहिष्कार हो रहा था — “साइमन वापस जाओ” की गूँज हर शहर में थी। कलकत्ता में विरोध-आंदोलन का नेतृत्व सुभाष के हाथों में था।

उसी वर्ष कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में एक ऐतिहासिक बहस हुई। मोतीलाल नेहरू की रिपोर्ट डोमिनियन स्टेटस (ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन) की सिफ़ारिश करती थी। सुभाष और जवाहरलाल नेहरू युवा पीढ़ी की आवाज़ बने — उनकी माँग थी पूर्ण स्वतंत्रता, इससे कम कुछ नहीं। गांधी के समझौते से प्रस्ताव संशोधित हुआ — सरकार को एक वर्ष का समय दिया गया, वरना पूर्ण स्वराज ही लक्ष्य होगा। 1929 के लाहौर अधिवेशन में अंततः पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पास हुआ और नेहरू अध्यक्ष बने। युवा पीढ़ी की यह जीत थी, जिसमें सुभाष की भूमिका प्रमुख थी।

नेहरू और सुभाष की मित्रता इन्हीं वर्षों में गहरी हुई। दोनों युवा, समाजवादी विचारों के समर्थक, आधुनिक भारत के स्वप्नद्रष्टा। पत्र-व्यवहार में वे देश की आर्थिक-सामाजिक दिशा पर लंबे विमर्श करते थे। मतभेद भी होते थे — पर दोनों में एक-दूसरे के प्रति बौद्धिक सम्मान हमेशा बना रहा।

1930 में नमक सत्याग्रह और दांडी यात्रा का दौर आया। सुभाष बंगाल में आंदोलन संगठित करते हुए गिरफ्तार हुआ। जेल में रहते हुए ही वह कलकत्ता का मेयर चुना गया — जनता के प्रेम का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा। रिहाई के बाद उसने यूरोप यात्रा की तैयारी के बीच मेयर पद संभाला, पर सरकार ने शीघ्र ही उसे फिर नज़रबंद कर दिया।

1931 के गांधी-इरविन समझौते और कराची अधिवेशन के दौर में भगत सिंह की फाँसी ने देश को झकझोर दिया था। सुभाष का मानना था कि क्रांतिकारियों के प्रति कांग्रेस को अधिक स्पष्ट और संवेदनशील होना चाहिए। कराची में गांधी से उसकी लंबी बातचीत हुई, पर विचारों की दूरी बनी रही। भगत सिंह के प्रति नेताजी के मन में गहरा आदर था — वे क्रांतिकारियों के बलिदान को स्वतंत्रता संग्राम की अमूल्य धरोहर मानते थे, यद्यपि उनका अपना मार्ग जन-आंदोलन और संगठन का था।

1932 तक आते-आते उसका स्वास्थ्य जेलों के कारण बुरी तरह प्रभावित हो चुका था। सरकार के लिए वह सबसे असुविधाजनक भारतीय नेता बन चुका था — ऐसा नेता जो युवाओं को आकर्षित करता था, प्रशासन जानता था और किसी दबाव में झुकता नहीं था। अंततः सरकार ने उसे इलाज के नाम पर यूरोप जाने की अनुमति दी — शर्त यह कि वह वापस न आए। यह निर्वासन उसके जीवन का नया अध्याय खोलने वाला था।

### इस अध्याय से

1928–32 के वर्ष नेताजी को राष्ट्रीय नेता बनाते हैं — पूर्ण स्वराज की माँग के अग्रणी, नेहरू के निकटतम युवा सहयोगी, और क्रांतिकारियों के प्रति सम्मान रखने वाले संगठनकर्ता। यही वह छवि है जो अगले दशक में और निखरेगी।

## यूरोप का निर्वासन — विचार, पुस्तक और एमिली (1933-1936)

फ़रवरी 1933 में सुभाष इलाज के लिए यूरोप खाना हुआ। वियना उसका केंद्र बना। शरीर इलाज माँग रहा था, पर मन भारत की राजनीति के अध्ययन में लगा था — यह निर्वासन उसके लिए विचारों की प्रयोगशाला बन गया।

यूरोप में उसने विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएँ, मज़दूर आंदोलन और आर्थिक नीतियाँ गहराई से देखीं। वह आयरलैंड के स्वतंत्रता नेता डी वॉलेरा से मिला, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड की यात्रा की, और इटली में मुसोलिनी से भी उसकी भेंट हुई — उस समय के यूरोप में यह सामान्य कूटनीतिक संपर्क था, जिनसे वह भारत के प्रश्न पर अंतरराष्ट्रीय समर्थन की संभावनाएँ तलाशता था। उसका मूल रुख स्पष्ट था — भारत की आज़ादी के लिए विश्व के हर मंच पर आवाज़ उठाना।

इसी काल में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “The Indian Struggle” (भारत का संघर्ष) लिखी — 1920 से 1934 तक के भारतीय आंदोलन का विश्लेषणात्मक इतिहास, जो लंदन से प्रकाशित हुई और भारत में उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। यह पुस्तक बताती है कि सुभाष केवल आंदोलनकारी नहीं, गंभीर राजनीतिक विचारक भी था — गांधी के नेतृत्व की प्रशंसा के साथ उसने रणनीतिक आलोचना भी निर्भीकता से की।

वियना में ही उसके जीवन में एमिली शेंकल आई — ऑस्ट्रियाई युवती, जो उसकी सहायक (सेक्रेटरी) के रूप में काम करने लगीं और पुस्तक के कार्य में सहयोगी बनीं। धीरे-धीरे यह संबंध गहरे आत्मीय बंधन में बदल गया। बाद के वर्षों में, उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार, 1937 में दोनों का विवाह हुआ — गोपनीय परिस्थितियों में, क्योंकि नेताजी का जीवन पूर्णतः देश को समर्पित था और वे अपने निजी जीवन को सार्वजनिक बनाना नहीं चाहते थे। उनकी पुत्री अनीता का जन्म 1942 में वियना में हुआ।

यूरोप से वह भारतीय विद्यार्थियों और प्रवासियों को संगठित करता रहा। उसका स्पष्ट मत था कि आगामी विश्वयुद्ध में ब्रिटेन की कठिनाई भारत के लिए अवसर होगी — यह विचार बाद में उसकी पूरी रणनीति की नींव बना। साथ ही उसने यह भी लिखा कि स्वतंत्र भारत को किसी विदेशी विचारधारा की नकल नहीं, अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समाजवादी और लोकतांत्रिक ढाँचा बनाना होगा।

1936 में उसने स्वदेश लौटने का निर्णय लिया — सरकार की चेतावनी के बावजूद। बंबई पहुँचते ही उसे गिरफ्तार कर लिया गया। देशभर के विरोध के बाद 1937 में वह रिहा हुआ, जब कांग्रेस मंत्रिमंडलों का दौरा शुरू हो रहा था। यूरोप से लौटा सुभाष अब केवल बंगाल का नेता नहीं था — वह अखिल भारतीय राजनीति के शीर्ष की ओर बढ़ रहा था।

### **विचार-दृष्टि**

यूरोप के वर्षों ने नेताजी को दो बातें दीं — अंतरराष्ट्रीय राजनीति की व्यावहारिक समझ, और स्वतंत्र भारत के आर्थिक-सामाजिक ढाँचे का स्पष्ट चित्र। एमिली शेंकल से उसका संबंध उसके कठोर सार्वजनिक जीवन के पीछे छिपे मानवीय पक्ष को दर्शाता है।

## हरीपुरा — कांग्रेस अध्यक्ष और स्वतंत्र भारत का स्वप्न (1938)

1938 में गुजरात के हरीपुरा अधिवेशन में सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। गांधी का भी इस चुनाव में समर्थन था। 41 वर्ष की आयु में वह देश के सबसे बड़े राजनीतिक संगठन के शीर्ष पर था।

उसका अध्यक्षीय भाषण भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों में गिना जाता है। उसने केवल अंग्रेज़ों से आज़ादी की बात नहीं की — उसने स्वतंत्र भारत का पूरा चित्र रखा : राष्ट्रीय एकता, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा, भाषाई प्रांतों का सम्मान, जनसंख्या और शिक्षा की नीति, और सबसे महत्वपूर्ण — राष्ट्र का योजनाबद्ध आर्थिक विकास। उसने घोषित किया कि स्वतंत्र भारत में ग़रीबी मिटाना पहला कर्तव्य होगा और इसके लिए औद्योगीकरण आवश्यक है।

इसी वर्ष उसने राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) का गठन किया, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू बने। यह स्वतंत्रता के बाद की योजना आयोग की परंपरा की पूर्व-पीठिका थी। नेताजी का स्पष्ट मत था कि बड़े उद्योगों का राष्ट्रीय ढाँचा मज़बूत हो, विज्ञान और तकनीक को बढ़ावा मिले, और कृषि का आधुनिकीकरण हो।

हरीपुरा में उसका एक और रूप दिखा — संगठनकर्ता का। उसने अधिवेशन को एक अनुशासित, विशाल आयोजन बनाया। स्वयंसेवक दल की व्यवस्था, युवा भागीदारी और उसकी भाषण-शैली ने उसे युवाओं का प्रिय नेता बना दिया। “सुभाष बाबू” से “नेताजी” बनने का सफ़र यहीं से गति पकड़ता है।

पर इसी वर्ष असंतोष के बादल भी घिरने लगे। नेताजी का मानना था कि ब्रिटेन युद्ध की ओर बढ़ रहा है, इसलिए कांग्रेस को अल्टीमेटम देकर स्वतंत्रता का निर्णायक संघर्ष शुरू करना चाहिए। गांधी और वरिष्ठ नेतृत्व का मत था कि देश अभी उस संघर्ष के लिए तैयार नहीं और हिंसा का ख़तरा है। संघीय योजना (फेडरेशन) के प्रश्न पर भी मतभेद उभरे।

इन मतभेदों के बावजूद 1938 नेताजी के राजनीतिक जीवन का शिखर वर्ष था — कांग्रेस अध्यक्ष, योजना के प्रणेता, युवाओं के नायक। पर इतिहास गवाह है कि शिखर के बाद ही सबसे कठिन परीक्षा आती है। वह परीक्षा अगले वर्ष त्रिपुरी में आने वाली थी।

### **प्रसिद्ध भाषण-अंश**

हरीपुरा भाषण में नेताजी ने कहा था — स्वतंत्रता का अर्थ केवल विदेशी शासन का अंत नहीं है; उसका अर्थ है गरीबी, अशिक्षा और सामाजिक असमानता का अंत। यह वाक्य उनके पूरे “विज़न” का सार है — राजनीतिक आज़ादी के साथ सामाजिक-आर्थिक न्याय।

## त्रिपुरी संकट — मतभेद, इस्तीफ़ा और फॉरवर्ड ब्लॉक (1939-1940)

1939 में नेताजी ने दूसरा कार्यकाल के लिए अध्यक्ष पद का चुनाव लड़ने का निर्णय लिया। गांधी इसके पक्ष में नहीं थे — उन्होंने पट्टाभि सीतारमैय्या को प्रत्याशी बनाया। भारतीय राजनीति का यह दुर्लभ चुनाव हुआ — सुभाष ने सीतारमैय्या को हराया।

गांधी ने सार्वजनिक रूप से कहा — “पट्टाभि की हार मेरी हार है।” यह वाक्य इतिहास में दर्ज हो गया। त्रिपुरी अधिवेशन (मार्च 1939) में नेताजी तेज़ बुखार में, स्ट्रेचर पर लेटे हुए पहुँचे — वह दृश्य आज भी तस्वीरों में जीवित है। अधिवेशन में गोविंद वल्लभ पंत का प्रस्ताव पास हुआ, जिसने अध्यक्ष की कार्यसमिति गठन की स्वतंत्रता व्यावहारिक रूप से सीमित कर दी।

नेताजी ने कार्यसमिति बनाने का प्रयास किया — गांधी से लंबी वार्ताएँ हुईं, पत्र-व्यवहार चला — पर सहमति नहीं बनी। कार्यसमिति के अधिकांश सदस्यों ने इस्तीफ़े दे दिए थे। अंततः 29 अप्रैल 1939 को नेताजी ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से इस्तीफ़ा दे दिया। राजेंद्र प्रसाद अध्यक्ष बने।

यह निर्णय समझना आवश्यक है — यह सत्ता का झगड़ा मात्र नहीं था। प्रश्न था : क्या कांग्रेस ब्रिटेन को छह माह का अल्टीमेटम देकर निर्णायक संघर्ष छेड़े (नेताजी का प्रस्ताव), या प्रतीक्षा और वार्ता का मार्ग अपनाए (गांधी-नेतृत्व का रुख)? दोनों पक्ष देशभक्त थे, मार्ग अलग थे। नेताजी का आरोप था कि नेतृत्व समझौतावादी हो गया है; नेतृत्व का कहना था कि नेताजी जल्दबाज़ी कर रहे हैं।

मई 1939 में नेताजी ने कांग्रेस के भीतर ही “फॉरवर्ड ब्लॉक” की स्थापना की — उद्देश्य था सभी समझौता-विरोधी, वामपंथी शक्तियों को एक मंच पर लाना। बाद में अनुशासनात्मक कार्रवाई के तहत उन्हें बंगाल कांग्रेस अध्यक्ष पद से हटाया गया और तीन वर्ष के लिए कांग्रेस पदों के अयोग्य घोषित किया गया।

1940 में उन्होंने कलकत्ता में होलवेल स्मारक हटाने का आंदोलन छेड़ा — वह स्मारक 1756 की “ब्लैक होल” घटना की ब्रिटिश प्रस्तुति का प्रतीक था, जिसे भारतीयों का अपमान माना जाता था। सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। जेल में उन्होंने आमरण अनशन शुरू किया — उनका तर्क था कि जब देश युद्ध की आग में है, वे जेल में बेकार नहीं बैठ सकते। स्वास्थ्य बिगड़ने पर दिसंबर 1940 में सरकार ने उन्हें रिहा कर कलकत्ता के एल्गिन रोड स्थित घर में नज़रबंद कर दिया।

नज़रबंदी की उस अँधेरी कोठरी में एक ऐसी योजना पक रही थी, जो ब्रिटिश साम्राज्य की सबसे बड़ी खुफ़िया असफलताओं में गिनी जाएगी।

### **संबंधों की झलक**

त्रिपुरी के बाद भी नेताजी ने गांधी को “राष्ट्र का सर्वोच्च नेता” कहना बंद नहीं किया। 1944 में वह उन्हें “राष्ट्रपिता” कहेंगे। मतभेद नीति पर था, व्यक्ति पर नहीं — यह बात इस प्रसंग को समझने की कुंजी है।

## महान पलायन — कलकत्ता से काबुल और बर्लिन (1941)

16-17 जनवरी 1941 की रात। एल्गिन रोड के घर पर पुलिस की कड़ी निगरानी थी। एक कार अंधेरे में निकली — उसमें बैठा था एक मौलवी जैसा व्यक्ति, नाम “मुहम्मद ज़ियाउद्दीन”। यह स्वयं सुभाष चन्द्र बोस थे — दाढ़ी बढ़ाई हुई, लंबा बटनदार कोट और तुर्की टोपी जैसा पहनावा। कार चलाने वाला उनका भतीजा शिशिर कुमार बोस था।

योजना अत्यंत गोपनीय थी। कुछ विश्वस्त साथियों के अलावा कोई नहीं जानता था — बड़े भाई शरत बोस को भी संकेत मात्र मिला था। कलकत्ता से गोमोह, वहाँ से फ्रंटियर मेल से पेशावर। पेशावर में मियाँ अकबर शाह जैसे सहयोगियों ने आगे का रास्ता बनाया। वहाँ से एक गूँगे-बहरे तीर्थयात्री के वेश में — ताकि भाषा की समस्या न आए — सुभाष को पठानी साथियों के साथ दुर्गम पहाड़ी रास्तों से काबुल पहुँचाया गया। रास्ते में बर्फ़, नदियाँ, ब्रिटिश जासूसों का खतरा — हर कदम पर मौत या गिरफ्तारी का साया था।

काबुल में कई सप्ताह अनिश्चितता में बीते। सोवियत दूतावास से अपेक्षित सहायता नहीं मिली। अंततः इटली के राजनयिक माध्यम से रास्ता खुला — नया नाम और पासपोर्ट (“ओरलांडो मज़ोटा”) बनाकर उन्हें मास्को होते हुए बर्लिन भेजा गया। अप्रैल 1941 के प्रारंभ में सुभाष बर्लिन पहुँचे।

यह “महान पलायन” (The Great Escape) केवल एक भागने की घटना नहीं थी — यह नेताजी की रणनीतिक सोच का प्रमाण था। उनका सिद्धांत स्पष्ट था — “शत्रु का शत्रु मित्र होता है” — ब्रिटेन विश्वयुद्ध में फँसा है, इसलिए भारत की आज़ादी के लिए अंतरराष्ट्रीय समर्थन जुटाना चाहिए। वे इस विचार को खुले तौर पर कहते थे — ब्रिटेन की कठिनाई ही भारत का अवसर है।

ब्रिटिश सरकार के लिए यह भारी झटका था। कलकत्ता के घर में नेताजी के “ध्यान में बैठे होने” की ख़बर फैलाई गई थी; जब सच्चाई खुली तो साम्राज्य की ख़ुफ़िया व्यवस्था पर सवाल खड़े हो गए। भारत में यह घटना एक किंवदंती बन गई — नेताजी जनता के लिए अब केवल नेता नहीं, एक रहस्यमय नायक थे।

पर बर्लिन में उनका इंतज़ार आसान दिनों का नहीं था। नाज़ी जर्मनी के अपने हित थे, नेताजी के अपने सिद्धांत। अगले दो वर्ष इसी खींचतान की कहानी हैं — समझौता वहाँ हुआ जहाँ भारत का हित था, टकराव वहाँ जहाँ सिद्धांत आड़े आए।

### ऐतिहासिक टिप्पणी

पलायन के मार्ग और सहायकों के विवरण नेताजी के सहयोगियों के संस्मरणों और शिशिर कुमार बोस के वृत्तांत पर आधारित हैं। यह घटना द्वितीय विश्वयुद्ध की सबसे चर्चित गुप्त यात्राओं में मानी जाती है।

# बर्लिन के दिन — आज़ाद हिंद रेडियो और हिटलर से भेंट (1941-1943)

बर्लिन में नेताजी ने “फ्री इंडिया सेंटर” की स्थापना की और आज़ाद हिंद रेडियो शुरू किया, जहाँ से वे नियमित रूप से भारतवासियों को संबोधित करते थे। यहीं “जय हिंद” का अभिवादन संस्थागत रूप से गढ़ा गया, जो बाद में INA और स्वतंत्र भारत की पहचान बना।

जर्मनी में भारतीय सैनिकों से “लीजन” (Indian Legion) का गठन हुआ — ये वे भारतीय युद्धबंदी थे जो उत्तरी अफ्रीका में जर्मनों के हाथ लगे थे। नेताजी की शर्त स्पष्ट थी — यह सेना केवल भारत की आज़ादी के लिए, ब्रिटिश सेना के विरुद्ध लड़ेगी, किसी अन्य मोर्चे पर उसका उपयोग नहीं होगा। इस सिद्धांत पर वे अंत तक अड़े रहे।

मई 1942 में हिटलर से उनकी बहुचर्चित भेंट हुई। नेताजी ने माँग रखी — जर्मनी सार्वजनिक घोषणा करे कि युद्ध के बाद भारत स्वतंत्र होगा, और “Mein Kampf” में भारत व भारतीयों के बारे में लिखी अपमानजनक बातों का खंडन हो। हिटलर की प्रतिक्रिया टाल-मटोल वाली रही — कोई ठोस घोषणा नहीं हुई। भेंट का वृत्तांत लिखने वालों के अनुसार नेताजी निराश लौटे; उन्हें स्पष्ट हो गया था कि बर्लिन से अपेक्षित राजनीतिक लाभ सीमित है। यही वह मोड़ था जहाँ से उनकी दृष्टि दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर मुड़ी — जहाँ जापान की सेनाएँ आगे बढ़ रही थीं और लाखों प्रवासी भारतीय मौजूद थे।

यहाँ एक तथ्य ईमानदारी से रखना आवश्यक है। इतिहासकारों का व्यापक मत है कि नेताजी का धुरी-शक्तियों से संपर्क विचारधारा के समर्थन से नहीं, विशुद्ध रणनीतिक उद्देश्य से था — अंग्रेज़ों को हर ओर से घेरना। वे नाज़ी नस्लवाद के समर्थक कभी नहीं रहे; भारत में उनकी राजनीति सदैव धर्मनिरपेक्ष और समावेशी रही, और INA में सभी धर्मों के सैनिक एक साथ थे। फिर भी इस अध्याय पर बहस इतिहास में चलती रहती है — संतुलित जीवनी का कर्तव्य है कि संदर्भ स्पष्ट रखे।

नवंबर 1942 में वियना में उनकी पुत्री अनीता का जन्म हुआ। दिसंबर में वे एमिली और नवजात पुत्री से विदा लेकर उस यात्रा पर निकले, जिसका निर्णय हो चुका था — जर्मन पनडुब्बी से दक्षिण-पूर्व एशिया। एमिली से वह उनकी अंतिम भेंट सिद्ध हुई; विदाई के समय का पत्र-व्यवहार उनके पत्रों में आज भी संवेदनशील पाठकों को भावुक कर देता है।

फ़रवरी 1943 में कील बंदरगाह से जर्मन पनडुब्बी U-180 रवाना हुई — उसमें दो भारतीय सवार थे : सुभाष चन्द्र बोस और उनके सहयोगी आबिद हसन। विश्वयुद्ध के सबसे ख़तरनाक समुद्री सफ़रों में से एक शुरू हो चुका था।

### प्रसिद्ध उद्धरण

आज़ाद हिंद रेडियो के प्रसारणों में नेताजी कहते थे — “यह भारत की आज़ादी की अंतिम लड़ाई है। हमें हर क़ीमत पर इसे जीतना है — क़ीमत चाहे जो हो।” विदेश से देश के नाम यह सीधा संवाद उस दौर में क्रांतिकारी प्रयोग था।

### पनडुब्बी का सफ़र और सिंगापुर आगमन (1943)

U-180 की यात्रा लगभग तीन महीने चली — अटलांटिक से हिंद महासागर तक। शत्रु के जहाज़ों और पनडुब्बियों से भरा समुद्र, हफ़्तों तक सूर्य की रोशनी के बिना का जीवन, सीमित हवा और पानी। अप्रैल 1943 के अंत में मेडागास्कर के पास खुले समुद्र में वह ऐतिहासिक हस्तांतरण हुआ — रबर की नाव के सहारे सुभाष जापानी पनडुब्बी I-29 में सवार हुए। युद्ध के इतिहास में यह एकमात्र ऐसा मामला माना जाता है जब दो मित्र-देशों की पनडुब्बियों ने खुले समुद्र में यात्री का आदान-प्रदान किया।

मई 1943 में वे इंडोनेशिया के सबांग पहुँचे, वहाँ से टोक्यो गए। जापान के प्रधानमंत्री जनरल तोजो से भेंट हुई — तोजो नेताजी के व्यक्तित्व और संकल्प से प्रभावित हुआ। जून 1943 में जापानी संसद (डाइट) में तोजो ने भारत की स्वतंत्रता के समर्थन की घोषणा की — यह वह राजनीतिक प्रतिबद्धता थी जो बर्लिन में नहीं मिली थी।

दक्षिण-पूर्व एशिया में उस समय एक और महान भारतीय कार्यरत था — रासबिहारी बोस, 1915 से निर्वासित क्रांतिकारी, जिन्होंने इंडियन इंडिपेंडेंस लीग और INA की पहली नींव रखी थी। मोहन सिंह के नेतृत्व में बनी पहली INA जापानियों से मतभेदों के कारण बिखर चुकी थी। अब प्रश्न था — क्या नेताजी इस बिखराव को एक महान सेना में बदल पाएँगे?

4 जुलाई 1943 को सिंगापुर के कैथे हॉल में एक भावुक समारोह हुआ — वयोवृद्ध रासबिहारी बोस ने इंडियन इंडिपेंडेंस लीग का नेतृत्व और INA की कमान सुभाष के हाथों सौंप दी। सुभाष ने अपने भाषण में कहा कि वे सैनिकों को विजय का वादा नहीं करते — वे केवल भूख, प्यास, कठिनाइयाँ और अंत में विजय की ओर बढ़ने का संकल्प दे सकते हैं। भीड़ में उपस्थित हज़ारों भारतीयों की आँखें नम थीं।

5 जुलाई को सिंगापुर के मैदान में INA की विशाल परेड हुई। नेताजी ने सलामी ली और सेना को नया नाम, नया नारा और नया लक्ष्य दिया — “दिल्ली चलो।” उसी मंच से उन्होंने पहली बार सार्वजनिक रूप से वह संबोधन दिया जो अमर हो गया। सैनिकों के सामने खड़े होकर उन्होंने कहा — आने वाले संघर्ष में सफलता की कोई गारंटी नहीं, पर भारत की आज़ादी की यह लड़ाई अब रुकने वाली नहीं।

मात्र कुछ सप्ताह में सिंगापुर, मलाया, बर्मा और पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया के भारतीय समुदाय में अभूतपूर्व उत्साह फैल गया। व्यापारी अपना धन देने लगे, युवक भर्ती होने लगे, महिलाएँ संगठन में जुड़ने लगीं। एक निर्वासित नेता अब एक जन-आंदोलन का केंद्र था — जिसकी अगली घोषणा दुनिया को चौंकाने वाली थी : एक निर्वासित स्वतंत्र सरकार।

### **इस अध्याय से**

पनडुब्बी यात्रा नेताजी के साहस का प्रतीक है — 46 वर्ष की आयु में, खराब स्वास्थ्य के बावजूद, उन्होंने वही मार्ग अपनाया जिसमें मृत्यु लगभग निश्चित थी, क्योंकि उनका मानना था कि नेता का स्थान सेना के साथ होता है, सुरक्षित दूरी पर नहीं।

## आज़ाद हिंद सरकार — “जय हिंद, दिल्ली चलो” (1943)

21 अक्टूबर 1943 को सिंगापुर में नेताजी ने “आज़ाद हिंद अस्थायी सरकार” (Provisional Government of Free India) की स्थापना की घोषणा की। यह विश्व इतिहास का अद्भुत क्षण था — एक निर्वासित सरकार, जिसकी अपनी सेना थी, अपना बैंक और मुद्रा की योजना थी, और जिसे जापान, जर्मनी, इटली समेत नौ देशों ने मान्यता दी।

घोषणा-पत्र पढ़ते समय नेताजी की आवाज़ भावुकता से काँप गई — उन्होंने ईश्वर के नाम पर शपथ ली कि वे भारत को स्वतंत्र कराने तक संघर्ष करते रहेंगे। सरकार ने तुरंत ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की — प्रतीकात्मक रूप से यह भारत का अपना युद्ध-निर्णय था, किसी और का नहीं। मंत्रिमंडल में सभी समुदायों के प्रतिनिधि थे — यह नेताजी की धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता का व्यावहारिक रूप था।

INA का पुनर्गठन विशाल स्तर पर हुआ। तीन ब्रिगेडों को गांधी, नेहरू और आज़ाद के नाम दिए गए — यह नामकरण स्वयं एक संदेश था : यह फ़ौज पूरे राष्ट्र की है, किसी एक विचारधारा की नहीं। सुभाष ब्रिगेड अलग से बनी। सेना का आदर्श वाक्य रखा गया — “एकता, विश्वास, बलिदान” (इत्तेहाद, एतमाद, कुर्बानी)। वर्दी पर धर्म-जाति का कोई चिह्न नहीं — सभी भारतीय, केवल भारतीय।

भाषणों का वह स्वर्णिम दौर था। 1943 के अपने प्रसिद्ध भाषण में नेताजी ने सैनिकों और प्रवासी भारतीयों से वह माँग की जो इतिहास में गूँजती है — “तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा।” यह कोई रक्त-पिपासा नहीं थी — यह उस पीढ़ी से सर्वोच्च त्याग का आह्वान था, जो गुलामी की ज़ंजीरें तोड़ने को तैयार खड़ी थी।

धन-संग्रह के प्रसंग आज भी सुनाए जाते हैं — महिलाएँ अपने आभूषण उतारकर दे देती थीं; कहा जाता है कि एक महिला ने अपने स्वर्गीय पति की निशानियाँ तक सरकार को समर्पित कर दीं। गरीब मज़दूर अपनी मज़दूरी का हिस्सा देता था। आज़ाद हिंद बैंक की स्थापना हुई; प्रवासी भारतीयों ने करोड़ों का योगदान दिया। यह नेता और जनता के बीच वह भरोसा था जो किताबों में कम, इतिहास में कभी-कभी ही मिलता है।

नेताजी का दैनिक जीवन स्वयं अनुशासन की मिसाल था — सुबह की परेड, सैनिकों के साथ भोजन, घायलों से अस्पताल में भेंट, देर रात तक फ़ाइलें। सैनिक उन्हें केवल कमांडर नहीं मानते थे — “नेताजी” शब्द में वह भाव था जो पद से बड़ा होता है। अक्टूबर 1943 से INA अब केवल सेना नहीं रही — वह चलता-फिरता स्वतंत्र भारत बन गई थी, जिसकी राजधानी अभी बननी बाकी थी — दिल्ली।

### **प्रसिद्ध भाषण-अंश**

“दिल्ली का रास्ता आज़ादी का रास्ता है। दिल्ली चलो!” — और सरकार की घोषणा के अवसर पर : “हमारी हार हो सकती है, पर भारत की आज़ादी का संघर्ष अब कभी नहीं रुकेगा।” नेताजी के भाषणों की भाषा सरल, सीधी और सैनिकों के हृदय तक उतरने वाली थी।

## रानी झाँसी रेजिमेंट और शहीद-स्वराज द्वीप (1943-1944)

नेताजी की राष्ट्रीय दृष्टि की सबसे चमकती मिसाल है — रानी झाँसी रेजिमेंट। 1943 में उन्होंने महिलाओं की एक पूर्ण सैन्य टुकड़ी बनाई, जिसका नेतृत्व कैप्टन लक्ष्मी स्वामीनाथन (बाद में सहगल) ने किया। उस युग में, जब भारतीय समाज में महिलाओं का घर से बाहर निकलना भी संघर्ष था, सैकड़ों युवतियाँ वर्दी पहनकर, राइफल उठाकर परेड कर रही थीं।

नेताजी का तर्क स्पष्ट था — जो राष्ट्र अपनी आधी शक्ति को घर में बंद रखेगा, वह कभी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकता। स्वतंत्र भारत में महिला पुरुष के समान अधिकारों की भागीदार होगी। रेजिमेंट की सैनिकों में सभी समुदायों और वर्गों की लड़कियाँ थीं — धनी परिवारों की भी, मज़दूर परिवारों की भी। उनके प्रशिक्षण और अनुशासन की प्रशंसा जापानी अधिकारियों ने भी की।

दिसंबर 1943 के अंत में नेताजी अंडमान-निकोबार गए। जापान ने इन द्वीपों का प्रशासन आज़ाद हिंद सरकार को सौंपा था। 30 दिसंबर 1943 को पोर्ट ब्लेयर में नेताजी ने तिरंगा फहराया — स्वतंत्र भारत की धरती पर, ब्रिटिश कारावास के प्रतीक उसी द्वीप पर जहाँ सेल्युलर जेल खड़ी थी। द्वीपों के नाम बदले गए — अंडमान बना “शहीद द्वीप”, निकोबार बना “स्वराज द्वीप”। यह क्षण प्रतीकात्मक रूप से अपार महत्व का था — आज़ाद हिंद सरकार अब केवल कागज़ पर नहीं, भूमि पर भी अस्तित्व में थी।

इसी दौरान नेताजी की मुलाकातों और पत्रों में एक बात बार-बार दिखती है — स्वतंत्र भारत का उनका स्वप्न केवल झंडा बदलना नहीं था। वे कहते थे कि आज़ादी के बाद भारत को मज़बूत राष्ट्रीय सरकार, योजनाबद्ध विकास, सांप्रदायिक सद्भाव और अनुशासित नागरिकता की आवश्यकता होगी। कुछ समय के लिए मज़बूत केंद्र की उनकी अवधारणा पर आज भी बहस होती है, पर उनका उद्देश्य स्पष्ट था — नवजात राष्ट्र को अराजकता से बचाना।

जनवरी 1944 में सरकार और सेना का मुख्यालय रंगून (बर्मा) स्थानांतरित हुआ — मोर्चा अब भारत की सीमा के और निकट था। सैनिकों का उत्साह चरम पर था। वर्मा (बर्मा) के भारतीय समुदाय ने भी सरकार को अपार समर्थन दिया।

मार्च 1944 में वह घड़ी आई, जिसका इंतज़ार INA का हर सैनिक कर रहा था — भारत की धरती पर आक्रमण का आदेश। नारा गूँजा — “दिल्ली चलो!” पर इस बार रास्ते में इम्फाल की पहाड़ियाँ, मानसून की बारिश और एक ऐसी सेना थी, जिसकी युद्ध-क्षमता का संसार को अनुमान नहीं था।

### इस अध्याय से

रानी झाँसी रेजिमेंट और पोर्ट ब्लेयर का झंडारोहण — ये दो घटनाएँ बताती हैं कि नेताजी की आज़ादी केवल ब्रिटिश-विरोध नहीं थी; वह एक नए, समानतावादी भारत का निर्माण-संकल्प था, जो आज़ादी से पहले ही व्यवहार में दिखने लगा था।

## इम्फाल-कोहिमा — “तुम मुझे खून दो...” (1944)

मार्च 1944 में जापानी सेना के साथ INA की टुकड़ियाँ बर्मा से भारत की ओर बढ़ीं। 14 अप्रैल 1944 को मणिपुर के मोइरांग में INA के कर्नल शौकत अली मलिक ने तिरंगा फहराया — स्वतंत्र भारत की मुख्य भूमि पर आज़ाद हिंद फ़ौज का पहला झंडारोहण। सैनिकों ने उस मिट्टी को माथे से लगाया, जिसे छूने के लिए वे हज़ारों मील आए थे।

पर युद्ध का मैदान भाषणों से अलग होता है। इम्फाल और कोहिमा के मोर्चों पर ब्रिटिश-अमेरिकी सेना के पास वायु-शक्ति, गोला-बारूद और रसद की अपार श्रेष्ठता थी। मानसून आया तो रास्ते दलदल बन गए — रसद टूटी, दवाएँ ख़त्म हुईं, सैनिक भूखे-प्यासे लड़ते रहे। मलेरिया और पेचिश ने गोलियों से अधिक सैनिक मारे। फिर भी INA की टुकड़ियों की वीरता को स्वयं ब्रिटिश सैन्य विवरणों ने स्वीकार किया है — पीछे हटना उनके लिए आदेश से कठिन आदेश था।

जुलाई 1944 तक इम्फाल अभियान असफल हो चुका था। लाखों की संख्या में जापानी और INA सैनिक हताहत हुए। यह नेताजी के जीवन का सबसे कठिन दौर था — उन्होंने अपने सैनिकों की पीड़ा को अपनी पीड़ा माना; पीछे हटते समय भी वे अंतिम टुकड़ियों के साथ रहे, कई बार पैदल चले, घायलों को साथ ले जाने पर अड़े रहे।

इसी दौर, 6 जुलाई 1944 को रंगून रेडियो से नेताजी ने वह ऐतिहासिक संबोधन दिया, जिसमें गांधी को पहली बार “राष्ट्रपिता” कहा गया। उन्होंने कहा — “राष्ट्रपिता, भारत की मुक्ति की इस अंतिम लड़ाई में हमें आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएँ चाहिए।” वैचारिक मतभेदों के इतिहास में यह क्षण अद्भुत है : जिस नेता से रणनीति पर सबसे गहरा मतभेद था, उसी को राष्ट्रपिता कहकर आशीर्वाद माँगना — यह नेताजी के विशाल हृदय का प्रमाण है।

1944 के अंत तक सैन्य स्थिति लगातार बिगड़ रही थी। जापान स्वयं प्रशांत में हार रहा था। पर नेताजी ने सेना का मनोबल बनाए रखा — उनका कहना था कि INA का उद्देश्य केवल युद्ध जीतना नहीं है; उसका उद्देश्य भारत की जनता को यह विश्वास दिलाना है कि आज़ादी बलिदान से मिलती है और भारतीय सैनिक अपने देश के लिए लड़ सकता है। इस दृष्टि से इम्फाल की हार में भी एक बीज छिपा था — जो 1945-46 में लाल किले के मुक़दमों के समय पूरे देश में फूटने वाला था।

जनवरी 1945 में रंगून में नेताजी का जन्मदिन सैनिकों ने भावुक ढंग से मनाया — उन्हें फूलों और “जय हिंद” के नारों से तौला गया। युद्ध के बादल घने थे, पर उस शाम रंगून में भारत की आज़ादी का दीप अब भी जल रहा था।

### ऐतिहासिक टिप्पणी

सैन्य दृष्टि से इम्फाल अभियान असफल रहा, पर राजनीतिक दृष्टि से INA ने वह कर दिखाया जो दशकों का प्रचार नहीं कर पाया था — ब्रिटिश भारतीय सेना की “निष्ठा” की नींव हिला दी। यही हिलचल 1946 की नौसेना-विद्रोह और INA मुक़दमों के जन-आंदोलन में दिखेगी।

### वापसी का तूफान और अंतिम उड़ान (1945)

1945 की शुरुआत में बर्मा का मोर्चा ध्वस्त हो रहा था। ब्रिटिश सेना रंगून की ओर बढ़ रही थी। अप्रैल 1945 में नेताजी को रंगून छोड़ना पड़ा — महिलाओं की रानी झाँसी टुकड़ी की सुरक्षा को उन्होंने अपनी सुरक्षा से ऊपर रखा; उनकी वापसी की व्यवस्था करके ही वे आगे बढ़े। यह प्रसंग उनके चरित्र का वह पहलू दिखाता है जो युद्ध-कथाओं में अक्सर छूट जाता है — कमांडर की ज़िम्मेदारी अपने सबसे कमज़ोर सैनिक के प्रति सबसे अधिक होती है।

बैंकॉक और फिर सिंगापुर में नेताजी ने अंतिम प्रयास किए — सेना का पुनर्गठन, प्रवासी भारतीयों से संपर्क, और भविष्य की रणनीति। 6 और 9 अगस्त 1945 को हिरोशिमा-नागासाकी पर परमाणु बम गिरे; 15 अगस्त को जापान ने आत्मसमर्पण की घोषणा की। एक युग समाप्त हो रहा था।

सहयोगियों ने नेताजी को सलाह दी कि वे सोवियत संघ की ओर निकल जाएँ — मंचूरिया की दिशा में, ताकि नया मोर्चा खोला जा सके। उपलब्ध वृत्तांतों के अनुसार नेताजी की योजना टोक्यो होते हुए आगे बढ़ने की थी। 16 अगस्त को वे सिंगापुर से बैंकॉक, फिर साइगॉन (वियतनाम) पहुँचे।

17 अगस्त 1945 को साइगॉन से वे एक जापानी सैन्य विमान में सवार हुए — साथ में उनके विश्वस्त सहयोगी कर्नल हबीबुर्हमान थे। विमान ताइवान की ओर बढ़ा। 18 अगस्त 1945 को ताइपे (तत्कालीन ताइहोकु) हवाई अड्डे पर उड़ान भरते समय विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया — यही वह घटना है, जहाँ से इतिहास का सबसे विवादित अध्याय शुरू होता है।

आधिकारिक वृत्तांतों के अनुसार विमान में आग लगी, नेताजी गंभीर रूप से झुलस गए। उन्हें ताइपे के सैन्य अस्पताल ले जाया गया, जहाँ उसी रात उनका निधन हो गया। कर्नल हबीबुर्हमान, जो स्वयं घायल थे, इस वृत्तांत के प्रमुख प्रत्यक्षदर्शी बने। जापानी अधिकारी और अस्पताल के कर्मचारियों के बाद के बयानों ने भी मोटे तौर पर इसी घटना का समर्थन किया। नेताजी के अस्थि-अवशेष टोक्यो के रेंकोजी मंदिर में रखे गए, जहाँ वे आज भी हैं।

भारत में यह समाचार 23 अगस्त के आसपास पहुँचा — पूरा देश स्तब्ध रह गया। गांधी ने कहा — सुभाष की देशभक्ति अतुलनीय है; नेहरू ने शोक-संवेदना व्यक्त की। पर साथ ही एक प्रश्न भी उठा, जो दशकों तक गूँजता रहा — क्या यह समाचार सत्य है? नेताजी जैसे रहस्यमय व्यक्तित्व के लिए करोड़ों भारतीय यह मानने को तैयार नहीं थे कि वे इस प्रकार चले गए।

इतिहास यहीं दो धाराओं में बँट जाता है — एक ओर दस्तावेज़ों और प्रत्यक्षदर्शियों का वृत्तांत है, दूसरी ओर जनता की भावना, संदेह और अधूरी जाँचों का प्रश्न। अगले अध्याय में हम दोनों को तथ्यों के साथ रखेंगे।

### **इस अध्याय से**

अंतिम दिनों में भी नेताजी का लक्ष्य स्पष्ट था — संघर्ष जारी रखना। “हार” शब्द उनके शब्दकोष में नहीं था; परिस्थिति उन्हें केवल मार्ग बदलने पर मजबूर कर सकती थी, संकल्प नहीं।

## ताइपे — दुर्घटना या रहस्य? जाँच और विवाद

नेताजी के निधन का प्रश्न स्वतंत्र भारत के सबसे लंबे विवादों में है। एक संतुलित जीवनी का धर्म है कि वह भावना और तथ्य — दोनों को उनके स्थान पर रखे।

**दुर्घटना सिद्धांत के पक्ष में तथ्य :** कर्नल हबीबुर्हमान का विस्तृत बयान, जापानी अधिकारियों और चिकित्सकों के अभिलेखीय कथन, ताइपे से जुड़े दस्तावेज़, और ब्रिटिश-अमेरिकी खुफ़िया रिपोर्टें — जो स्वयं नेताजी को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानती थीं — मोटे तौर पर यही दर्शाती हैं कि नेताजी अगस्त 1945 के बाद जीवित नहीं देखे गए। 1956 की शाह नवाज़ समिति और 1970 के खोसला आयोग — दोनों ने विमान-दुर्घटना और निधन के निष्कर्ष को स्वीकार किया।

**संदेह के आधार :** दुर्घटना की कोई समकालीन तस्वीर या सार्वजनिक शव-परीक्षण रिपोर्ट उपलब्ध न होना, प्रारंभिक समाचारों में विरोधाभास, नेताजी के पहले भी गायब होकर लौट आने का इतिहास (1941), और दशकों तक विभिन्न स्थानों पर उनके जीवित होने के दावे — इन सबसे जनता के मन में प्रश्न बना रहा। 1999 में गठित मुखर्जी आयोग (2005 की रिपोर्ट) ने दुर्घटना-सिद्धांत को अस्वीकार किया और कहा कि ताइपे में उस तिथि को कोई विमान-दुर्घटना अभिलेखित नहीं है; भारत सरकार ने उस रिपोर्ट के इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं किया। अस्थियों के डीएनए परीक्षण सहित कई माँगें समय-समय पर उठती रही हैं।

**“गुमनामी बाबा” और अन्य दावे :** उत्तर प्रदेश के फ़ैज़ाबाद (अयोध्या) में रहने वाले एक रहस्यमय संत को नेताजी मानने का दावा भी चला, पर ठोस प्रमाणों के अभाव में इतिहासकारों का व्यापक वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार रूस में उनके जीवित रहने के दावे भी प्रमाणित नहीं हो पाए। 2016 से केंद्र सरकार ने नेताजी से संबंधित अनेक फ़ाइलें सार्वजनिक कीं — इनसे अनेक विवरण स्पष्ट हुए, पर विवाद की भावना पूर्णतः शांत नहीं हुई।

इस पुस्तक की स्थिति स्पष्ट है — उपलब्ध प्रमाणों का भार विमान-दुर्घटना के पक्ष में अधिक है, किंतु जाँचों के परस्पर विरोधी निष्कर्षों के कारण प्रश्न को “पूर्णतः बंद” कहना भी ऐतिहासिक ईमानदारी नहीं है। नेताजी की महानता उनके जाने के रहस्य से बड़ी है — वे कैसे गए, इससे बड़ा प्रश्न यह है कि वे जिए कैसे और देश को क्या देकर गए।

शायद यह भी इतिहास का एक विचित्र सत्य है — जो नेता जीवन भर साम्राज्य की आँखों से ओझल रहा, उसका अंत भी प्रश्नचिह्नों में घिरा रहा। पर जनता के हृदय में नेताजी कभी “भूतकाल” नहीं बने — वे आज भी वर्तमान हैं, हर 23 जनवरी को देश उन्हें उसी भाव से स्मरण करता है।

### नोट

इस अध्याय में आयोगों के नाम और निष्कर्ष उनके सार्वजनिक अभिलेखों के अनुसार रखे गए हैं। पाठकों से अनुरोध है कि विवादित विषयों पर अंतिम मत बनाने से पहले आयोग-रिपोर्टों और नेताजी फ़ाइलों के मूल दस्तावेज़ों का भी अध्ययन करें।

## विरासत और अंतरराष्ट्रीय छवि — नेताजी आज भी

नेताजी की सबसे बड़ी विजय उनकी मृत्यु के बाद मिली। नवंबर 1945 में दिल्ली के लाल किले में INA के तीन अधिकारियों — शाह नवाज़ ख़ान, प्रेम सहगल और गुरुबख़्श ढिल्लों (एक मुस्लिम, एक हिंदू, एक सिख) — पर मुक़दमा चला। पूरा देश एक साथ खड़ा हो गया। कांग्रेस ने बचाव समिति बनाई — भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में वकीलों की टीम में तेज़ बहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू और जवाहरलाल नेहरू भी थे, जो वर्षों बाद वकील का गाउन पहनकर अदालत आए। “लाल किले से आई आवाज़ — सहगल, ढिल्लों, शाह नवाज़” की गूँज गली-गली में थी।

इतिहासकारों का व्यापक मत है कि INA मुक़दमों के जन-आंदोलन और फ़रवरी 1946 के नौसेना विद्रोह ने ब्रिटिश शासन को स्पष्ट संदेश दे दिया — अब भारतीय सैनिकों की निष्ठा पर भरोसा नहीं किया जा सकता, और जिस साम्राज्य की नींव भारतीय सैनिक था, उसकी नींव हिल चुकी है। स्वयं ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमंत्री एटली के बाद के कथनों को भी इस संदर्भ में उद्धृत किया जाता है। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ — उस स्वतंत्रता की इमारत में नेताजी और INA का अध्याय सुवर्ण अक्षरों में है।

**अंतरराष्ट्रीय छवि :** दक्षिण-पूर्व एशिया में नेताजी का सम्मान असाधारण है। सिंगापुर में INA स्मारक (जिसे युद्ध के बाद अंग्रेज़ों ने ध्वस्त किया था, 1995 में उसी स्थल पर स्मृति-चिह्न बना), मलेशिया और इंडोनेशिया के स्वतंत्रता-आंदोलनों पर उनका प्रभाव, जापान के रेंकोजी मंदिर में आज भी लगने वाली भीड़ — ये सब बताते हैं कि नेताजी केवल भारत के नहीं, एशिया के उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के नायक हैं। विश्व के अनेक नेताओं और चिंतकों ने समय-समय पर उनकी संगठन-क्षमता, साहस और राष्ट्रीय एकता के मॉडल की प्रशंसा की है। साथ ही इतिहास में धुरी-शक्तियों से उनके संपर्क पर वाद-विवाद भी चलता रहता है — पर गंभीर अध्ययन का निष्कर्ष यही है कि उनका उद्देश्य एकमात्र था : भारत की स्वतंत्रता।

**विचारों की विरासत :** योजनाबद्ध विकास, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र, नारी-समानता और जाति-धर्म से ऊपर की राष्ट्रीय पहचान — नेताजी के ये विचार स्वतंत्र भारत में जीवित रहे। “जय हिंद” आज राष्ट्रीय अभिवादन है। 2021 से 23 जनवरी “पराक्रम दिवस” है और 2022 में इंडिया गेट परिसर में नेताजी की भव्य प्रतिमा स्थापित हुई।

**नेताजी और आज का भारत :** आज जब कोई युवक लक्ष्य के लिए सुख-सुविधा त्यागता है, जब कोई सैनिक बर्फीली सीमा पर “जय हिंद” कहता है, जब कोई नागरिक धर्म-जाति से ऊपर उठकर “पहले भारतीय” कहता है — वहाँ नेताजी जीवित हैं। उनकी जीवनी का अंतिम पाठ यही है — राष्ट्र प्रेम शब्दों से नहीं, कर्म से सिद्ध होता है; और एक व्यक्ति, यदि संकल्प अडिग हो, तो इतिहास की धारा मोड़ सकता है।

## ॥ जय हिंद ॥

### समापन-वचन

“भारत की स्वतंत्रता का मूल्य चुका दिया गया है — अब वह किसी की दया पर निर्भर नहीं रहेगी।” नेताजी का यह विश्वास 15 अगस्त 1947 को सत्य हुआ। यह जीवनी उसी विश्वास को नमन है।

## जीवन-क्रम, उद्धरण और संदर्भ

### प्रमुख जीवन-क्रम

**1897–1921 :** 23 जनवरी 1897 — कटक में जन्म • 1913 — मैट्रिक में द्वितीय स्थान, प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश • 1916 — ओटेन प्रसंग, कॉलेज से निष्कासन • 1919 — बी.ए. (दर्शन, प्रथम श्रेणी), इंग्लैंड प्रस्थान • 1920 — ICS परीक्षा में चतुर्थ स्थान • अप्रैल 1921 — ICS से इस्तीफ़ा; जुलाई 1921 — गांधी से पहली भेंट, देशबंधु से जुड़ाव; पहली गिरफ्तारी।

**1924–1939 :** 1924 — कलकत्ता निगम के मुख्य कार्यकारी अधिकारी; रेगुलेशन-III में गिरफ्तारी, मांडले जेल • 1925 — देशबंधु का निधन • 1927 — रिहाई • 1928 — साइमन बहिष्कार, पूर्ण स्वराज की माँग • 1930 — जेल में रहते कलकत्ता के मेयर निर्वाचित • 1933 — यूरोप निर्वासन, “The Indian Struggle” का लेखन • 1936 — वापसी पर गिरफ्तारी • 1938 — हरीपुरा कांग्रेस अध्यक्ष, राष्ट्रीय योजना समिति • 1939 — त्रिपुरी विजय, इस्तीफ़ा, फॉरवर्ड ब्लॉक।

**1940–1945 :** 1940 — होलवेल आंदोलन, अनशन, घर में नज़रबंदी • जनवरी 1941 — महान पलायन; अप्रैल 1941 — बर्लिन आगमन • 1942 — हिटलर से भेंट; पुत्री अनीता का जन्म • 1943 — पनडुब्बी यात्रा; 4 जुलाई — सिंगापुर में INA की कमान; 21 अक्टूबर — आज़ाद हिंद सरकार; 30 दिसंबर — पोर्ट ब्लेयर में झंडारोहण • 1944 — इम्फाल अभियान, मोइरांग में तिरंगा; 6 जुलाई — गांधी को “राष्ट्रपिता” संबोधन • अप्रैल 1945 — रंगून से वापसी; 18 अगस्त 1945 — ताइपे विमान-दुर्घटना (विवादित) • 1945-46 — लाल किला INA मुक़दमे • 15 अगस्त 1947 — भारत स्वतंत्र।

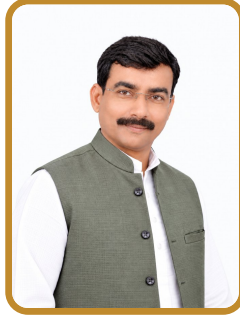
### प्रसिद्ध उद्धरण

“तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा।” • “दिल्ली चलो!” • “जय हिंद!” • “स्वतंत्रता दी नहीं जाती, ली जाती है।” • “भारत की आज़ादी की यह अंतिम लड़ाई है।” • गांधी के लिए (1944) — “राष्ट्रपिता, इस अंतिम लड़ाई में हमें आपका आशीर्वाद चाहिए।” • “असफलताएँ कभी-कभी सफलता की नींव होती हैं।” (उनके लेखन-भाषणों में व्यक्त भाव)

## संदर्भ-टिप्पणी

इस जीवनी के प्रमुख आधार हैं — नेताजी की आत्मकथा “An Indian Pilgrim” और “The Indian Struggle”, उनके भाषणों व पत्रों के संकलन, कांग्रेस व आज़ाद हिंद सरकार के अभिलेख, शाह नवाज़ समिति (1956), खोसला आयोग (1970) और मुखर्जी आयोग (2005) की रिपोर्टें, शिशिर कुमार बोस व अन्य सहयोगियों के संस्मरण, तथा INA से जुड़े सैन्य वृत्तांत। विवादित प्रसंगों में सभी पक्षों का सार दिया गया है।

## लेखक परिचय



### कामरान असद

संपादक — मानवाधिकार मीडिया

अध्यक्ष — पब्लिक राइट्स एसोसिएशन

अध्यक्ष — भारतीय मानवाधिकार महासंघ

कामरान असद पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता और मानवाधिकार नेता हैं। मानवाधिकार मीडिया के संपादक के रूप में वे वर्षों से आम आदमी की आवाज़ को मंच देते आए हैं — उन लोगों की कहानियाँ सामने लाते हुए जिनकी सुनवाई अक्सर कहीं नहीं होती।

उनकी लेखनी का केंद्र हमेशा आम इंसान और राष्ट्र के वे नायक रहे हैं, जिनके संघर्ष से नई पीढ़ी को दिशा मिलती है। यही वजह है कि उनकी किताबें सरल भाषा में हर दिल तक पहुँचती हैं।

**अन्य पुस्तकें :** बदलती पीढ़ी : सोच से समाज तक का सफ़र • अच्छे लोग हार क्यों जाते हैं?

• आम आदमी के अधिकार • रिश्ते : एक आम घर की कहानी

वेबसाइट : [kamranasad.in](http://kamranasad.in)

ईमेल : [kamranasadjournalist@gmail.com](mailto:kamranasadjournalist@gmail.com)

## इस पुस्तक के बारे में

23 जनवरी 1897 को कटक में जन्मा एक बालक, जिसने ICS की नौकरी ठुकराकर देश की आज़ादी को अपना जीवन बना लिया। यह जीवनी उस पूरे सफ़र की कहानी है — गांधी से मुलाक़ात और मतभेद, नेहरू से मित्रता, देशबंधु चित्तरंजन दास का साया, त्रिपुरी का संकट, कलकत्ता से काबुल-बर्लिन का महान पलायन, आज़ाद हिंद फ़ौज का गठन, “जय हिंद” और “दिल्ली चलो” के नारे, इम्फाल का मोर्चा — और वह अंतिम उड़ान, जिसका रहस्य आज भी इतिहास से सवाल पूछता है।

भाषणों के प्रसिद्ध अंश, ऐतिहासिक संवादों का सार, नेताजी का स्वतंत्र भारत का स्वप्न और उनकी अंतरराष्ट्रीय छवि — सब कुछ सरल, सम्मानजनक और शोध-आधारित भाषा में। विवादित प्रश्नों पर यह पुस्तक अफ़वाह नहीं, तथ्य और जाँच-आयोगों की बात रखती है।

“तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा।”

— नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

### कामरान असद की अन्य पुस्तकें :

- बदलती पीढ़ी : सोच से समाज तक का सफ़र
- अच्छे लोग हार क्यों जाते हैं?
- आम आदमी के अधिकार • रिश्ते

**सभी पुस्तकें उपलब्ध हैं — [kamranasad.in](http://kamranasad.in)**